

उपनिषत् साहित्य में सृष्टयुत्पत्ति विषयक चिन्तन

शीलू कुमार

प्राध्यापक, श्री सोमनाथ संस्कृत माह विद्यालय, जींद, हरियाणा, भारत।

प्रस्तावना

अनिषत्कार के मत में निश्चय ही प्रजापति परमात्मा जब संसार को उत्पन्न करने की इच्छा करता है तो वह स्वयं तप करता है। उसी तप से रयि (प्रकृति) और प्राण (शक्ति) के जोड़े को उत्पन्न करता है। रयि और प्राण ही उसकी विविधरूपा प्रजा को उत्पन्न करते हैं।¹

प्राण और रयि किन-किन पदार्थों और रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं, इसकी व्याख्या करते हुए आगे ऋषि ने कहा—आदित्य ही प्राण और चन्द्रमा ही रयि हैं। संसार में जो कुछ व्यक्त और अव्यक्त (स्थूल और सूक्ष्म) है, उनमें सूक्ष्म और अव्यक्त को ही रयि (प्रकृति) कहना चाहिए। वस्तुतः प्रकृति तो भूतों की सूक्ष्मावस्था का ही नाम है।²

अब आदित्यरूपी प्राण का संसार के निर्माण और विकास में जो योग है, उसे स्पष्ट करते हैं—प्रथम आदित्य पूर्व दिशा में प्रवेश करता है और इस दिशा में रहनेवाले प्राणों को स्व-रश्मियों में धारण करता है। इस प्रकार वह प्राणों का आधारभूत सूर्य क्रमशः दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, और नीचे सर्वत्र—सब दिशाओं को प्रकाशित करता है और इन समस्त दिशाओं में अपनी किरणों को फैलाकर भूत पदार्थों और प्राणियों में (जड़-चेतन जगत् में) प्राणोन्मेष करता है। वह अग्निरूपी आदित्य ही वैश्वानर नाम धारण करता हुआ विभिन्न रूपों में अपनी प्राणाग्नि को व्यक्त करता उदय होता है। इस वैश्वानर सूर्य की स्तुति में उसे विश्वरूप, किरणोवाला, प्रकाशयुक्त, सबका आश्रय, एकमात्र ज्योतिरूप, प्रकाशमान, हजारों किरणोवाला यह सूर्य अनेक प्रकार से वर्तमान होता हुआ, प्रजा का प्राणरूप, उदय होने वाला कहा है।³

पुनः संवत्सर को प्रजापति-रूप में वर्णित करते हुए आचार्य ने कहा—निश्चय ही संवत्सर ही प्रजापति है। इसके दक्षिण और उत्तर दो अयन (भाग) हैं। जो लोग सकाम कर्म (इष्ट और आपूर्त-यज्ञ एवं कूप, तडाग आदि का निर्माण) करते हैं वे चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं, परन्तु सुखरूपी चन्द्रलोक में रहकर उन्हें पुनः संसार में लौटना पड़ता है। इसे ही संसार में दक्षिणायन तथा पितृयान कहा है। प्रजा-कामी लोगों का यह मार्ग है, जो सकाम भाव से किए गए नाना लोकोपकारी कार्यों तथा यज्ञादि द्वारा सिद्ध होता है। परन्तु यह मार्ग केवल लौकिक सुखों को ही प्रदान कर सकता है। इसे ही शास्त्रों में पितृयान कहा है। फलोपभोग के उपरान्त पुनः जन्म लेना ही इस मार्ग की नियति है।

दक्षिणायन मार्ग का वर्णन करने के पश्चात् उपनिषत्कार ने उत्तरायण का वर्णन किया—उत्तरायण ही देवमार्ग कहलाता है। इस साधन को स्वीकार करने वाला तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करता हुआ ज्ञानपूर्वक आत्मा का अनुसंधान करता है और उस आत्मा (परमात्म-तत्त्व) को जानकर आदित्य-लोक को जीत लेता है। इस प्रकार उत्तरायण मार्ग का यह साधक उस प्राण-तत्त्व के आश्रय-भूत अमृत, अभय, परमाश्रय ईश्वर को प्राप्त करता है। वहाँ से पुनः लौटकर नहीं आता। इसे ही निवृत्ति-मार्ग कहा गया है।⁵ अथर्ववेद के मंत्र में इस संवत्सररूपी प्रजापति का वर्णन इस रूप में मिलता है—यह संवत्सर पाँच ऋतुरूपी पंचापादात्मक, द्वादशाकृति

अन्य प्रकार से भी वर्णित किया जाता है। यह सात चक्रों (सप्त लोक-भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य) तथा छह अरों (ऋतुओं) से जुड़ा हुआ है।

इसी प्रजापति को मास के रूप में वर्णित किया। मास ही प्रजापति है। इसका कृष्ण पक्ष ही रयि और शुक्ल पक्ष ही प्राण है। इसीलिए विद्वान् ऋषि कृष्ण पक्ष में भी स्व-साधना में संलग्न रहते हैं।

अहोरात्र (दिन और रात्रि) को भी प्रजापति कहते हैं। दिन ही प्राण है और रात्रि ही रयि हैं। इस प्रसंग में स्त्रीसमागम-विषयक एक नियम का प्रसंगोपात्त उल्लेख करते हुए उपनिषत्कार ने कहा—जो लोग दिन के समय प्राणरूपी वीर्य का त्याग करते हैं वे शक्ति को नष्ट ही करते हैं; परन्तु जो रात्रि में संभोग-कृत्य करते हैं, वे मानो प्राकृतिक नियमों का पालन करने के कारण ब्रह्मचर्य का ही पालन करते हैं।⁶

अन्न ही प्रजापति है, उससे ही वीर्य होता है, और वीर्य से ही ये प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। सो जो गृहस्थ-प्रजापति व्रत का पालन करते हैं वे पुत्र-पुत्री रूप जोड़े को उत्पन्न करते हुए भी तप और ब्रह्मचर्य आदि साधनों का सम्यक् पालन करते हैं। इस तप और ब्रह्मचर्य-पालन में ही सत्यरूपी ईश्वर प्रतिष्ठित है और इनका साधक ही ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है जिनमें कुटिलता, असत्य तथा छल-कपट आदि बुराईयाँ नहीं हैं। इस प्रकार प्रथम प्रश्न के उत्तर में आचार्य ने प्राण और रयि की व्याख्या करते हुए आदित्य, संवत्सर, अहोरात्र आदि की व्याख्या की।

आगे उपनिषत्कार शंका करता है कि मानव-शरीर को कितने देव धारण करते हैं और उनमें कौन सर्वक्षेप है? उपनिषदों में प्राणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करनेवाले अनेक प्रसंग आए हैं। यहाँ भी इन्द्रियों की अपेक्षा प्राणों की वरीयता सिद्ध करने के लिए इस प्रश्नोत्तर को प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी पाँच महाभूत हैं और इन्हीं से शरीर में वाणी, मन, नेत्र, कान आदि इन्द्रियाँ स्व-स्व कार्यों को सम्पादित करती हैं। अब प्राणों की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए ऋषि ने एक रूपक बाँधा और कहा—ये सब इन्द्रियाँ प्रकाशित होकर परस्पर स्पर्धा करती हुई अपनी-अपनी श्रेष्ठता की घोषणा करने लगीं। उपनिषत्कार का मत है कि हमारे कारण ही शरीर टिका हुआ है, अन्यथा वह नष्ट ही हो जाता।⁷

तब इन्द्रियों से श्रेष्ठ प्राण ने कहा—तुम मोहग्रस्त होकर बात कह रही हो, जो कि वास्तविकता से दूर है। वस्तुतः मैं प्राण ही पञ्चधा (प्राण, अपान व्यान, समान, उदान) होकर शरीर को स्तम्भवत् धारण करता हूँ। इन्द्रियों को प्राण की बात में श्रद्धा नहीं हुई, तब उन्हें वस्तुस्थिति का ज्ञान कराने के लिए प्राण ने गर्वपूर्वक शरीर से निकलना आरम्भ किया।⁸ परिणाम यह हुआ कि प्राणों के उत्क्रमण करने पर सब अवशिष्ट इन्द्रियाँ भी शरीर से निकलने लगीं, और जब प्राण पुनः शरीर में स्थिर हुआ तो इन्द्रियाँ भी स्थिर हो गईं। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियों की शक्ति शरीर में प्राणों की अवस्थिति पर ही निर्भर है। जिस प्रकार शहद के छत्ते की मक्खियाँ मधुकरराज (रानी मक्खी) के निकलने पर छत्ते से उड़ जाती हैं और उसके रहने पर ही छत्ते में रहती हैं, उसी प्रकार

वाणी, चक्षु और श्रोत्र भी प्राणों के निकलने पर शरीर से निकल जाते हैं।

“यह प्राण ही अग्निरूप से प्रकाशित होता है, यह प्राण ही शरीर रूपी ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाला सूर्य हैं। यही ऐश्वर्य की वर्षा करनेवाला मेघ है, यही वायु के तुल्य शक्तिशाली है और यही पृथिवी के तुल्य शरीर का धारक और आश्रय-स्थान है। प्राण ही रयिरूप पोषक है। दिव्य शक्तिसम्पन्न देव है। यही कारण और कार्यरूप तथा अविनाशी अमृत है। जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे प्रतिष्ठित रहते हैं, उसी प्रकार इस प्राण में ऋक्, यजुः तथा साम (त्रिविध मंत्रोंवाले चारों वेद), यज्ञ, क्षत्र तथा ब्रह्म की शक्तियाँ प्रतिष्ठित रहती हैं। अर्थात् वेदों का अध्ययन, यज्ञक्रिया, क्षात्र एवं ब्रह्म बल को सम्पादित करने आदि के सभी कार्य प्राण-शक्ति की सहायता से ही सम्पन्न होते हैं।⁹

“हे प्राण! तू ही प्रजापति-रूप में गर्भ में निवास करता है और तू ही पुनः शिशु की प्राणशक्ति के रूप में जन्म लेता है। तेरे लिए ही तेरी प्रजारूपी इन्द्रियाँ बलि प्रस्तुत करती हैं। तू ही देवताओं को यज्ञ-भाग पहुँचानेवाला अग्नि है- पितरों को उनका भक्ष्य प्रदान करता है, ऋषियों (इन्द्रियों) को पुष्टिप्रदाता तथा शरीर के अंगों को शक्ति देनेवाला है। हे प्राण ! तू ही अपनी तेजस्विता के कारण रुद्र है, रक्षण-शक्ति के कारण इन्द्र है। तू ही अंतरिक्ष में विचरण करता है तथा तू ही ज्योतिष्मान् नक्षत्रों का स्वामी सूर्य है।” अभिप्राय यह है कि प्राण को इन्द्रवत् तेजस्वी, रुद्र के तुल्य शक्तिमान् तथा नक्षत्रों को भी सूर्य के तुल्य शक्ति-प्रदान कहा गया है।¹⁰

प्राण ही मेघ-रूप में वर्षा करता है। जलरूपी पर्जन्य-वृष्टि होती हो तो प्रजाएँ यह जानकर प्रसन्न होती हैं कि अब यथेष्ट अन्न होगा। हे प्राण ! तू ब्राह्म्य है (स्वाभाव से शुद्ध तथा किसी संस्कार की अपेक्षा न रखनेवाला), तू ही ऋषि (चिन्तन-शक्ति का अधिष्ठाता) है तथा अत्ता (सर्वभक्षक-सबका ग्रहण करनेवाला); तू ही विश्व का श्रेष्ठ स्वामी है। हम तो तुझे अन्नादि भक्ष्य पदार्थ प्रदान करानेवाले तेरे सहायक हैं। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए गए भक्ष्य पदार्थों से ही प्राणशक्ति बलवती होती है। हे मातरिश्वारूपी प्राण ! तू हमारा पिता, पालक है।¹¹

अंत में इन्द्रियों ने स्वशक्ति-वर्धनार्थ प्रार्थना करते हुए प्राण से कहा- “यह जो तेरी व्यापक शक्ति वाणी में, श्रोत्र में, चक्षु में तथा मन में फैली हुई है, उसे हमारी इन्द्रियों के लिए मंगलकारिणी बना तथा इस शरीर से तू मत निकल। अन्यथा न तो हम इन्द्रियाँ ही रहेंगी और न यही शरीर ही रह पाएगा। वस्तुतः द्यौः, अन्तरिक्ष तथा पृथिवीलोक में जो कुछ प्रतिष्ठित है, उसका आधार और वशकर्ता प्राण ही है। हे प्राण ! तू माता के तुल्य पुत्रों की रक्षा कर तथा हमें ऐश्वर्य एवं बुद्धि प्रदान कर। प्राणों द्वारा इन्द्रियों की रक्षा और पालन वैसे ही होता है, जैसे माता स्व-सन्तान का पालन करती है।” इसी प्रकार मनुष्य को ऐश्वर्य और बुद्धि भी प्राणशक्ति के प्रबल होने से ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्राणों की महिमा निरूपित करनेवाला यह संवाद समाप्त हुआ।

आगे उपनिषत्कार पुनः शंका करता है कि प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है? इस शरीर में किस प्रकार प्रविष्ट होता है? किस प्रकार अपने-आपको विभक्त कर शरीर में ठहरता है? शरीर से किस प्रकार बाहर निकलता है? यह बाह्य जगत् को किस प्रकार धारण करता है तथा अध्यात्मजगत् इसे किस प्रकार धारण किया जाता है?”

स्वयं ही उपनिषत्कार समाधान प्रस्तुत करता है कि “आत्मा ही से प्राण उत्पन्न होता है। यद्यपि प्राण सूक्ष्म शरीर का एक अंश है तथा सूक्ष्म शरीर के साथ ही उसका शरीर में प्रवेश होता है, परन्तु शरीर में उनका अस्तित्व आत्मा के साथ ही होता है, इसलिए आत्मा को ही प्राण का निमित्त कारण बताया गया है। द्वितीय प्रश्न

के उत्तर में यह बताया गया कि पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों से उत्पन्न वासना के द्वारा ही प्राण शरीर में प्रविष्ट होता है।¹²

“जिस प्रकार एक राजा अपने अधिकार से भिन्न-भिन्न राज्याधिकारियों की नियुक्ति करता है, उसी प्रकार मुख्य प्राण अन्य प्राणों की शरीर के पृथक्-पृथक् भागों में नियुक्ति करता है। ये प्राण शरीर के अंगों में इस प्रकार रहते हैं-अपान नामक प्राण मल और मूत्रेन्द्रिय में रहकर मल एवं मूत्र के विसर्जन की क्रियाओं का नियंत्रण करता है। मुख, नाक, आँख तथा कान-इन इन्द्रियों में रहता हुआ मुख्य प्राण रहता है, जिसकी सहायता से अन्न पचाने का कार्य होता है। इसी प्रसंग में आचार्य ने हृदयदेश से निकलकर शरीर के अवान्तर भागों में जानेवाली नाड़ियों का विवरण उपस्थित किया है। रक्त का शोधन करनेवाली समस्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियों की संख्या इतनी अधिक है कि उनकी ठीक-ठीक गणना भी सम्भव नहीं है। व्यान नामक प्राण इन नाड़ियों में रहता है तथा उसी से प्राणवान् होकर ये नाड़ियाँ शुद्ध रक्त का शरीर में सर्वत्र संचार करती हैं। इन्हीं नाड़ियों में एक ऐसी है जो शरीर में ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर की ओर उठती है। इसका संचालन उदान नामक प्राण द्वारा होता है। यहाँ एक शास्त्रोक्त प्रसिद्ध बात यह भी कही गई है कि इस उदान प्राण से ही पुण्यात्मा पुण्यलोक को और पापात्मा पापमय=दुःखमय नरकलोक को प्राप्त होता है।¹³

आगे शंका उठी कि प्राण नामक तत्त्व बाह्य जगत् को किस प्रकार नियंत्रित करती है? इसके उत्तर स्वरूप ऋषि चिन्तन करता है कि “बाह्य जगत् में सूर्य ही प्राणस्थानीय है जो उदय होकर मानव के नेत्रों को प्रकाश देता है, देखने की शक्ति प्रदान करता है। पृथिवी के बीच का आकर्षण है। वह बाह्य जगत् का अपान प्राण है। सूर्य और बीच का आकाश समान नामक प्राण-तुल्य है। वायु व्यान प्राण है तथा तेज (अग्नि) ही उदान प्राण है। इसलिए यह लोक-प्रचलित बात है कि जिसका तेज शान्त हो चुका है वह प्राणी पुनर्जन्म लेता है। इस प्रकार सूर्य, पृथिवी, आकाश, वायु और अग्नि, इन पंच महाभूतों को बाह्य-जगत् में विद्यमान पंच प्राण कहा गया है। अध्यात्म-जगत् में प्राणों की प्रक्रिया किस रूप में होती है? इस प्रसंग में “मनुष्य के चित में जैसी वासना होती है, वैसी ही उसे प्राण प्राप्त होता है। जीवन के अन्तिम समय में यह प्राण तेज (शरीर की जीवनी शक्ति) से मिलकर आत्मा के साथ शरीर से बाहर निकल चित में स्थित वासना (संस्कार) के अनुसार नवीन योनि=जन्म=लोक को जाता है।¹⁴

“जो विद्वान् प्राणतत्त्व को इस रूप में जानता है उसी सन्तान भी प्राणविद् होने के कारण नष्ट नहीं होती, अपितु वह प्राण-साधना से अमर हो जाती है। जो व्यक्त प्राण की उत्पत्ति, उसके शरीर में प्राविष्ट होने की रीति, उसका पंचधा रूप, शरीर के विभिन्न स्थानों में पाँच प्राणों की स्थिति, शरीर में उसके व्यापकत्व तथा अध्यात्म (शरीरान्तर्गत स्थिति) को जानता है वह अमरता को प्राप्त करता है।¹⁵ इस प्रकार उपनिषत् साहित्य में जीवन तत्त्व का मौलिक विवेचन हुआ। इस विषय में सभी और अनुसंधान आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ

1. प्रश्नोपनिषद् 1.4।
2. उपनिषदों की कथाएं पृष्ठ संख्या 25।
3. वही पृष्ठ संख्या 25।
4. ईशादि नौ उपनिषद् पृष्ठ संख्या 179।
5. उपनिषदों की कथाएं (डॉ० भवानी लाल भारतीय) पृष्ठ संख्या 26।
6. प्रश्नोपनिषद् 1.4।
7. उपनिषदों की कथाएं (डॉ० भवानी लाल भारतीय) पृष्ठ संख्या 27।
8. ईशादि नौ उपनिषद् (गीता प्रेस गोरखपुर) पृष्ठ संख्या 192।

9. प्रश्नोपनिषद् 4.2 ।
10. उपनिषदों की कथाएं (डॉ० भवानी लाल भारतीय) पृष्ठ संख्या 27 ।
11. ईशादि नौ उपनिषद् (गीता प्रेस गोरखपुर) पृष्ठ संख्या 125 ।
12. प्रश्नोपनिषद् 3.3 ।
13. उपनिषदों की कथाएं (डॉ० भवानी लाल भारतीय) पृ० संख्या 28 ।
14. ईशादि नौ उपनिषद् (गीता प्रेस गोरखपुर) पृष्ठ संख्या 198 ।
15. प्रश्नोपनिषद् 3.12 ।